जनवरी १९९६ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

आत्म-कथन

मंगलमयी कृतज्ञता

कृतज्ञता का भाव धर्म का एक अपरिहार्य अंग है। कृतघ्नता धर्मशून्यता की, धर्म के सर्वथा अभाव की प्रतीक है। भारत ही नहीं, विश्व के सभी संप्रदायों की धार्मिक भावनाओं में कृतज्ञता का एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सौभाग्य से मैं जिन माता-पिता के यहां जन्मा, जिस परिवार में पला और जिस देश के लोगों के बीच रहा, वहां मेरे लिए कृतज्ञता का महत्त्व सर्वदा सर्वोपरि रहा।

बात तब की है जब मैं बहुत छोटा था। उस समय मेरी उम्र कोई साढ़े चार-पांच वर्ष की रही होगी। परिवार के सभी सदस्य **मांडले** (ब्रह्मदेश) से अपने पूर्वजों की भूमि **चूरू** (राजस्थान) में किसी धार्मिक अनुष्ठान के लिए आये थे। वहीं संयुक्त परिवार के तीनों भाइयों ने निर्णय किया कि बुजुर्गों की टूटी-फूटी, खंडहर हुई इमारत के स्थान पर एक नयी हवेली का निर्माण किया जाय। इसे क्रियान्वित करने के लिए बड़े ताऊजी अपनी इकाई सहित वहीं रह गये। मेरे माता-पिता ने मुझे भी उनके पास छोड़ दिया। चांदा भूआ भी वहीं रुक गयी।

चांदा भूआ बाल-विधवा थी। उसके ससुराल में कोई नहीं बचा था। कुछ दिनों अत्यंत कष्ट के दिन बिता कर वह जीवनभर के लिए अपने पीहर में ही आकर रहने लगी थी। पीहर में भी हमारी दादी का देहांत हो चुका था। उनकी चार संतानों में चांदा भूआ सबसे बड़ी थी। उस समय मेरे पिताश्री तो बालक ही थे। दोनों ताऊजी भी वयस्क नहीं हुए थे। यद्यपि उन दिनों पुरुषों द्वारा पुनर्विवाह किया जाना बहुत प्रचलित था परंतु दादाजी ने जीवनभर विधुर रहना ही श्रेयस्कर समझा। अतः पिताश्री और दोनों ताऊजी के पालन-पोषण का सारा दायित्व चांदा भूआ ने ही सँभाला था। उसका स्वभाव बहुत तेज था, पर हम बच्चों के प्रति उसे गहरा प्यार था, लगाव था।

चांदा भूआ ने मुझे समीप की एक पाठशाला में भर्ती करवा दिया। वह एक छोटा-सा टूटा-फूटा पुराना मंदिर था, जिसमें एक छोटा-सा चौक था। यही पाठशाला थी। इसी में मेरी उम्र के और मुझसे कुछ बड़े २०-२५ लड़के पढ़ने आते थे। गुरुजी एक वृद्ध सज्जन थे। वे एक आंख से काने थे। लकड़ी लेकर चलते थे। नाम संभवतः काशीराम रहा होगा या केशवराम या ऐसा ही कुछ और। परंतु कासु गुरुजी के नाम से ही जाने जाते थे, जो कि उपरोक्त किसी नाम का ही लौकिक अपभ्रंश बन गया होगा। बहरहाल मैं उन्हें कासु गुरुजी के नाम से ही याद करता हूं। वे पढ़ाने की कला में बड़े माहिर थे, इसका प्रमाण तो यही है कि कुल छः महीने में ही उन्होंने मुझ जैसे नौसिखिये बालक को पूरी वर्णमाला ही नहीं बल्कि पूरी बारहखड़ी रटवा कर याद करवा दी। इसी प्रकार एक से सौ तक की गिनती ही नहीं बल्कि दस तक के पहाड़े और इसके बाद डेढे, ढाये और घूंटे याने डेढ, अढाई और साढ़े तीन के पहाड़े याद करवा दिये थे जो कि मेरी आगे की पढ़ाई में बहुत काम आये।

उनकी पढ़ाई रटंत-विद्या से होती थी। पाठ रटाने की उनकी विद्या बड़ी अद्भुत थी, आकर्षक थी। आजकल की नर्सरी राईम से कई गुना अधिक असरकारक थी। वर्णमाला के हर अक्षर के लिए लोकगीत की-सी एक कड़ी थी, जो बड़े लहजे के साथ गवायी जाती थी। इसी प्रकार गिनती और पहाड़े भी एक अत्यंत कर्णप्रिय लहजे में गवाये जाते थे। छः महीने बाद मांडले (बर्मा) की प्राइमरी स्कूल में भर्ती हुआ। वहां पढ़ाने की विधि सर्वथा भिन्न मिली। अतः उस प्राथमिक पढ़ाई के मजेदार गीतों के बोल धीरे-धीरे अतीत की विस्मृति में विलीन हो गये। आज उन गीतों के जो इक्के-दुक्के बोल याद आ जाते हैं, वे अब भी मन में गुदगुदी जगा देते हैं।

दैनिक पढ़ाई एक गीत से आरंभ होती थी, जिसका पहला बोल था – "सीधो बरणो"। अर्थ समझें या न समझें पर नित्य इस पाठ से पढ़ाई आरंभ करने में बड़ा आनंद आता था। वर्णमाला की पढ़ाई जिस गीत से रटायी जाती थी, उसका बोल था – "कक्को कोडको",यह 'क' के लिए। और आगे का एक और वर्ण याद रह गया –"गग्गो गोरी गाय", यह 'ग' के लिए। वर्णमाला के एक अन्य अक्षर का पाठ भी इसलिए नहीं भूल सका क्योंकि उसमें हम बच्चों के गीत गाने के साथ-साथ एक-दो कदम भागने का लुभावना अभिनय भी करना पड़ता था। वह था 'त' वर्ग का अंतिम अक्षर 'न', जिसके लिए गीत के बोल थे – "आगै नन्नो भाग्यो जाय"।

इसी प्रकार गिनती शुरू होती थी, "इक्यावळी एक, दूवै दो" से और इसका अंत बड़े नाटकीय ढंग से होता था –

"एकै ऊपर बिंदी दो, गिणै-गिणाये पूरे सौ।"

हम इन पाठों को बड़ी मस्ती से गाया करते थे। इसी कारण ये बड़ी सरलता से याद हो जाते थे।

मुझे याद है, उन दिनों गर्मी का मौसम था। चूरू अपनी ठंड के लिए जितना बदनाम है उतना ही गर्मी के लिए भी। बड़ी तेज गर्मी के कारण दोपहर के समय पाठशाला में ही दो घंटे सोने की छुट्टी मिलती थी। सभी बच्चे मंदिर की फेरी के लिए बनी गैलरी में सो जाते थे। सोने का समय पूरा होने पर घंटी बजती थी और हम सब उठ कर फिर पाठ रटने लगते थे। परंतु उस समय भी गर्मी तो बहुत तेज रहती ही थी। अतः कुछ-एक आलसी लड़के देर तक सोये रहते थे। बूढ़े गुरुजी को पता ही नहीं चलता था। परंतु किसी के शिकायत कर देने पर या कभी स्वयं उठ कर देख लेने पर गुरुजी उन आलसी बच्चों की खूब पिटायी करते थे। अपने माता-पिता की प्रताड़ना के कारण ही उन्हें पाठशाला आना पड़ता था, अन्यथा उन बच्चों की पढ़ने में कोई रुचि नहीं थी। वे गुरुजी से खार खाये बैठे थे। गुरुजी अन्य बच्चों को नहीं पीटते थे। केवल उन्हें ही पीटते थे। उनके मन में इसका बहुत मलाल था। गुरुजी जब पीटते थे तो 'हाउ' जैसी कोई आवाज करते थे। मुझे याद नहीं पर शायद यह उनका तकिया कलाम रहा हो। उपद्रवी विद्यार्थियों ने इसे ही लेकर

एक कविता रच डाली।

"कासु काणो, छोरां नै पढ़ाणो।

कासु बोलै हाऊ, मैं कासु को ताऊ॥"

सायंकाल पाठशाला की छुट्टी होने पर घर की ओर भागते हुए ये बच्चे मिल कर जोरों से यह गीत गाते थे। धीरे-धीरे कुछ-एक अन्य विद्यार्थी भी उनका साथ देने लगे। बार-बार सुनते-सुनते यह पद मुझे भी याद हो गया। कह नहीं सकता, परंतु हो सकता है यह गीतमय नारा लगाने में मैंने भी कभी उन सहपाठियों का साथ दिया हो।

पाठशाला से जब-जब घर लौटता तो स्नेहमयी चांदा भूआ मुझसे पूछती कि आज क्या पढ़ कर आया? मैं जितना-जितना पढ़ कर आता, उसे उसी लहजे में दोहरा देता। वह बहुत प्रसन्न होकर मुझे गोद में उठा लेती और छाती से चिपा लेती। नयनों में खुशियों का समंदर भर कर मुझे चूमती और सिर पर हाथ फेरती। मुझे यह सब बहुत अच्छा लगता।

एक दिन पाठशाला से लौटने पर भूआ ने जब पूछा कि आज क्या पढ़ कर आया? तो मैंने बड़े सहज और सरल भाव से उन उपद्रवी बालकों की कविता सुना दी।

"कासु काणो, छोरां नै पढ़ाणो।

कासु बोलै हाऊ, मैं कासु को ताऊ॥"

सुनते ही भूआ की आंखें लाल हो गयी। वह बहुत गुस्से से बोली – 'क्या बोला रे?'

चांदा भूआ चंड स्वभाव की थी, यह हम बच्चे रोज देखते थे। जब वह रुद्री का रूप धारण करती तो बेचारी मां और दोनों ताइयां डर के मारे थर-थर कांपने लगती थीं। परंतु भूआ ने हम बच्चों पर स्नेह ही उँडेला, कभी कोप नहीं किया। पहली बार भूआ का यह कोप देख कर मेरा दिल दहल गया। मैंने डरी-डरी, सहमी-सहमी आवाज में उत्तर दिया –"भूआ, कुछ और बच्चे ऐसा गाते हैं। मैंने भी उनसे सुन कर याद कर लिया।"

सहसा रुद्राणी भूआ का कोप दूर हो गया और सदा की भांति उसके हृदय से वात्सल्य का झरना फूट पड़ा। उसने मुझे गोद में लेकर बड़े प्यार से समझाया –

"देख बेटे, अपने गुरु के बारे में ऐसी गंदी बात कभी नहीं बोलनी चाहिए। इससे बड़ा पाप लगता है। ऐसा पापी बालक कभी विद्या नहीं सीख सकता। कासु महाराज तुम्हें इतने प्यार से पढ़ाते हैं और तू उनका उपकार नहीं मानता। उल्टे बुरे छोरों की संगत में आकर उन्हें गाली देता है? तुझे विद्या कैसे आयेगी रे? किसी का उपकार कभी नहीं भूलना चाहिए।"

सहसा भूआ को कोई पुरानी बात याद आ गयी। उसकी आंखें छलछला आयीं। उसने कहा, बहुत वर्षों पहले मैंने बहुत गरीबी के दिन काटे थे। परिवार में कोई कमाने वाला नहीं था और घर में एक वक्त के खाने का भी प्रबंध नहीं था। उस समय मैं एक ऊंचे कुल की बेटी, एक ऊंचे कुल की बहू किसी के सामने हाथ भी कैसे पसारती? कुछ-एक घरों से अनाज ले आती और अपने घर में चक्की से पीस कर उन्हें आटा दे आती। इससे जो मजदूरी मिलती, उससे पेट पालती। फिर दिन फिरे। लेकिन अब भी जब कभी उनको याद करती हूं तो जिन्होंने मुझे उन दिनों आटा पीसने का काम दिया, उनका उपकार नहीं भूलती। बेटे, किसी का उपकार कभी नहीं भूलना चाहिए। चाहे किसी से मुट्ठीभर आटा ही मजदूरी के रूप में मिले, पर उपकार तो उपकार ही है। कासु महाराज तो तुम्हें विद्या देते हैं जो कि इतनी अनमोल है। विद्या से बढ़ कर और क्या धन होगा भला? और तू उनका उपकार मानना तो दूर, उनके प्रति ऐसे गंदे शब्द बोल रहा है?"

द्रवित हृदय से निकला हुआ स्नेहमयी भूआ का उपदेश सुन कर मेरी भी आंखें भर आयीं। मैंने भूआ से कहा कि मैं फिर कभी ऐसी गलती नहीं करूंगा।

भूआ ने कहा, चल मेरे साथ, कासु महाराज से क्षमा मांग और उनको यह वचन दे कि ऐसी भूल फिर कभी नहीं करेगा। वह मुझे तुरंत कासु महाराज के पास ले गयी। मैंने उनके पांव छूकर उनसे क्षमा मांगी। भविष्य में कभी ऐसी भूल न करने का वचन दिया। उन्होंने बड़े प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेरा और कहा, इसमें तेरा दोष नहीं है। बुरे बच्चों की संगत से ऐसा हो ही जाता है। बुरों की संगत कभी नहीं करनी चाहिए। ऐसे बच्चों से सदा दूर रहना चाहिए।

मैं यह जान कर बहुत खुश हुआ कि गुरुजी मुझसे नाराज नहीं है। मैं भूआ के साथ प्रसन्नचित्त घर लौटा। भूआ भी बहुत खुश थी।

मैं खूब समझता था कि मैंने गुरुजी के प्रति अपशब्द वाला जो गीत गाया, वह बिल्कुल नासमझी में ही गाया था। गुरुजी के प्रति मेरे मन में जरा भी अनादर का भाव नहीं था। परंतु अनजाने में ही क्यों न हो, ऐसे शब्द मुँह से निकले, यही कितना बड़ा पापकर्म हुआ। कृतज्ञता की कल्याणी शिक्षा का जो यह बीज चांदा भूआ ने मेरे बाल-मानस में बोया, वह बड़ा कल्याणकारी साबित हुआ।

मुझे याद है, कुछ समय के बाद कासु गुरुजी का शरीर शांत हुआ और उन शरारती लड़कों ने एक और गीत बनाया –

"कालीजी कै मंदिर की धोळी धजा।

कासु मरगो खूब मजा॥

यह सुन कर मुझे गुरुजी के शरीर छूटने की सूचना से जो दुःख हुआ, उससे कहीं अधिक दुःख उन नादान सहपाठियों की नादानी पर हुआ, उनकी बदतमीजी पर हुआ। मेरी आंखें भर आयीं।

बचपन में मिला कृतज्ञता-धर्म का यह पावन बीज अंकुरित होकर खूब फला-फूला। जब विपश्यना-विद्या के संपर्क में आया और भगवान बुद्ध की वाणी देखी तो यह पढ़ कर मन अत्यंत संतुष्ट-प्रसन्न हुआ कि भगवान ने भी कृतज्ञता को उत्तम मंगल धर्म बताया है और दुर्लभ धर्म भी। उन्होंने कहा है –

इमे द्वे पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं।

– संसार में ये दो पुद्गल दुर्लभ हैं।

यो च पुब्बकारी – वह जो किसी का उपकार करने में पहल करता है यानी बदले में कुछ पाने का पूर्व चिंतन करके नहीं, बल्कि उपकार के लिए ही उपकार करता है।

यो च कतञ्ञू कतवेदी – वह जो कृतज्ञ है, कृतवेदी है।

बचपन से चला आ रहा कृतज्ञता का यह दुर्लभ धर्म भगवान बुद्ध की विपश्यना-विद्या पाकर पुष्ट से पुष्टतर होता गया।

पुष्ट हुई कृतज्ञता उन भगवान बुद्ध के प्रति जिन्होंने भगवती विपश्यना-विद्या को पुनर्जीवित किया और जीवनभर करुणचित्त से, बिना किसी भेद-भाव के सबको वितरित करते रहे। कृतज्ञता आचार्य परपंरा के उन संतों के प्रति, जिन्होंने इसे शुद्ध रूप में जीवित रखा और कृतज्ञता परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन के प्रति, जिन्होंने इतने वात्सल्य भाव से यह अनमोल रत्न मुझे विरासत में दिया।

कृतज्ञता सचमुच उत्तम मंगल धर्म है, दुर्लभ धर्म है। इसके पुष्ट होते रहने में मंगल ही मंगल है, कल्याण ही कल्याण है।

कल्याणमित्र,
स. ना. गो.

साधनाः लक्ष्य और उद्देश्य

– डॉ. ओम प्रकाश

साधना की प्रगति के तीन सोपान है, तीन सीढ़ियां हैं।

१. विधि को समझना – कैसे और क्यों करना।

२. विधि का ठीक-ठीक –बिना कुछ जोड़े-घटाये पालन करना।

३. विधि की गंभीरता जान कर उसके भीतर भली प्रकार "पैठना" याने वास्तविकता को, वर्तमान सच्चाई को अनुभव करना।

इनमें जितनी प्रगति होगी –लक्ष्य उतना ही स्पष्ट और निकट होता जायेगा।

साधारणतया हम बाहरी पदार्थों, दृश्यों और बाहरी संपर्कों को देखते हैं –उनके रूप-रंग, बनावट-सजावट की ओर हम आकर्षित होते हैं। राग उत्पन्न करते हैं या द्वेष-घृणा उत्पन्न करते हैं। ऐसा प्रत्येक साधारण व्यक्ति जाने या अनजाने में सदा ही करता है। हम सब का ऐसा 'स्वभाव' सा हो गया है और वास्तव में यही दुःख का मूल कारण है। इस स्वभाव से निकलना ही साधना का मुख्य लक्ष्य या उद्देश्य है। अर्थात दुःख का निवारण करना।

जब इस बाहर-बाहर दीखने वाले भासमान रूप से परे हट कर इसके असली स्वरूप को पहचान लेने का उपाय या गुर आ जाय तो ही सफलता प्राप्त हो सकती है। इस ऊपर से दीखने वाले रूप के भीतर क्या है? इस 'हिरण्यमय पात्र' के अंदर क्या रखा है –इसी को जानने की प्रक्रिया हमारी इस साधना का विषय है।

साधना का आरंभ हम शरीर के अंगों, अवयवों को ऊपर-ऊपर से देखते हुए करते हैं –नरम हैं, गरम हैं, ठंडे हैं, कोमल हैं, कठोर हैं, पसीने से तर हैं, सूखे हैं, दुखते हैं आदि आदि। साथ-साथ मूल्यांकन भी होता जाता है –अच्छा है बुरा है आदि। अभ्यास में आगे बढ़ते हैं तो उस अवयव के भीतर भी कुछ होता है, उसकी जानकारी होने लगती है। कंपन है, धूजन है, सरसराहट है आदि की पहचान होने लगती है। अर्थात केवल भौतिक नहीं, चैतसिक ज्ञान भी होने लगता है। इसे 'संवेदना' का नाम दिया गया है। जब यह मालूम होने लगती है याने अनुभूति होने लगती है और वह अच्छी लगती है, प्यारी-प्यारी लगती है तो यह ऐसी ही बनी रहे, यों उसके साथ राग होने लगता है। यह तो दुःखद सी है, मन को नहीं भाती, इसे तो हटना ही चाहिए –अर्थात द्वेष उत्पन्न होने लगता है।

परंतु अभ्यास करते-करते एक और सच्चाई सामने आ जाती है –अरे, यह जो संवेदना तब ऐसी थी अब वैसी नहीं रही, तब थी अब नहीं है, तब सुखद थी अब दुःखद है। यह तो बदलती रहती है। बदलना इसका स्वभाव है। यह स्थाई नहीं है। आती है और जाती है अर्थात 'अनित्य' है। अब इस अनित्य बोध के साथ-साथ एक और अनुभव होने लगता है। यह जो कुछ अस्थाई है वह कंपन ही कंपन है। ठोस कुछ भी नहीं है। शारीरिक संवेदना या मानसिक संवेदना सभी कंपन मात्र ही है। वाइब्रेशन ही है। गौतम बुद्ध ने इसे एक सूत्र में कह दिया – **'...सब्बो लोको पकम्पितो।'** जब साधक इस अवस्था तक पहुँच जाता है; तब शरीर और मन सब कुछ तरंग ही तरंग जैसा लगता है। मानो सब कुछ घुल-मिल गया है। सब कुछ तरल हो कर इधर-उधर बिखर रहा है। कहीं घनत्व ही नहीं रहा। ठोसपन का आभास ही नहीं होता। इस स्थिति को 'भंग' की अवस्था कहा गया है। यह बड़ी सुखद सी लगती है। कभी-कभी साधक इसी में खो जाता है। अपने शरीर का भान नहीं रहता –बैठा हूं या हवा में उड़ रहा हूं, रूई के फाहे के समान। स्थिति बदलती है और फिर साधक संवेदना को अनुभव करने लगता है। कोई-कोई तो इसे ही अंतिम अवस्था या गन्तव्य स्थान समझते हैं पर वास्तव में यह ऐसी नहीं है। यह एक पड़ाव मात्र है। अनित्यबोध का दर्शन मात्र है। इस अनित्यबोध के साथ समता का बोध होता है। सब में अपने को और सबको अपने में का ज्ञान होता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ सबसे विलग रहने की भावना पुष्ट हो जाती है। सच्ची 'उपेक्षा' का जीवन हो जाता है। साधना जीवन में उतरने लगती है।

यही हमारी सीढ़ी का अंतिम, सब से ऊपर का डंडा (Rung) है। पहुँचना दूर है, कठिन भी है। यात्रा लंबी है परंतु निरंतर अभ्यास करते रहने पर एक-एक सीढ़ी (Rung) पर पैर रखते-रखते साधक अंततः पहुँच ही जाता है।

(बिल हार्ट की पुस्तक 'द आर्ट आफ लिविंग' के आधार पर)

भवतु सब्ब मंगलं!

सी-३४, पंचशील एन्क्लेव, नई दिल्ली-११००१७